The Chitransh Academic & Research
International Journal of Multidisaciplinary Reseaech
An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume1 | Issue 3 | June 2025
ISSN: 3049-303X (Online)
Website: www.thechitranshacadmic.in

भारत में पुरातात्विक इतिहास की दिशा का अध्ययन

Navaneet kumar
Research Scholar, Sunrise University, Alwar, Rajasthan
Dr. Shobha Keshervani
Research Supervisor, Sunrise University, Alwar, Rajasthan

लेख विवरण

शोधपत्र

प्राप्ति तिथि: 19/06/2025
स्वीकृति तिथि: 26/06/2025
प्रकाशनतिथि: 30/06/2025

eq[; 'kCn % पुरातात्विक इतिहास, बौद्धिक विकास, भारतीय बौद्धिक परंपरा, भारतीय सभ्यता

सारांश

पुरातात्विक दृष्टि से यह काल न केवल भौतिक विकास का था बल्कि सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास की दृष्टि से भी अत्यंत समृद्ध था। शिक्षा के केंद्र जैसे तक्षशिला और नालंदा की नींव इसी काल में पड़ी। वेदों, उपनिषदों, धर्मसूत्रों, महावीर और बुद्ध की शिक्षाओं, जातक कथाओं तथा संस्कृत और पाली साहित्य की रचनाओं ने भारतीय बौद्धिक परंपरा को समृद्ध किया। यह समय धार्मिक सहिष्णुता, संवाद और दार्शनिक मंथन का भी युग था। शिल्पकला, स्थापत्यकला और चित्रकला के अनेक उदाहरण इस युग की सृजनात्मक शक्ति को दर्शाते हैं। चाहे वह सांची और भरहुत के स्तूप हों या बाराबर की गुफाएँ, अजंता की चित्रकला हो या मथुरा की मूर्तिकला—हर स्थान भारतीय समाज की विविधता और सांस्कृतिक समृद्धि का परिचायक है।भारत का प्रारंभिक ऐतिहासिक चरण एक ऐसा काल था जो प्राचीन समाज को आधुनिक राज्य व्यवस्था, व्यवस्थित धर्मों और उन्नत अर्थव्यवस्था की ओर ले गया। पुरातात्विक दृष्टिकोण से यह समय न केवल माटी, पत्थर, धातु और लिपियों में दर्ज हुआ, बल्कि उस काल की सोच, विश्वास और जीवन शैली का भी दर्पण बन गया। इस काल के अध्ययन से हमें यह समझने में सहायता मिलती है कि भारतीय सभ्यता का विकास किस प्रकार क्रमिक रूप से हुआ और उसने किस प्रकार विविध सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक चुनौतियों का सामना करते हुए एक समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर की रचना की। यही कारण है कि आज भी इस काल के पुरातात्विक अवशेषों का संरक्षण और अध्ययन एक महत्वपूर्ण कार्य बना हुआ है, जिससे हम न केवल अतीत को जान सकते हैं, बल्कि अपने वर्तमान और भविष्य के लिए भी दिशा प्राप्त कर सकते हैं।

प्रस्तावना

प्रारंभिक ऐतिहासिक समाज की जीवनशैली एक बहुआयामी, जटिल और गतिशील व्यवस्था थी, जिसमें परंपरा और नवाचार, ग्रामीण और नगरीय जीवन, धर्म और अर्थव्यवस्था, शिक्षा और कला, सभी ने अपनी-अपनी भूमिका निभाई। पुरातात्विक दृष्टिकोण से यह स्पष्ट होता है कि यह काल केवल ऐतिहासिक संक्रमण नहीं था, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण, संगठन और रचनात्मकता का काल भी था। चाहे वह एक नगर का योजना-निर्माण हो या एक स्तूप की कलाकृति, एक मुद्रा पर अंकित प्रतीक हो या मिट्टी के पात्र की संरचना – सभी हमें उस जीवनशैली की जटिलता, सूक्ष्मता और वैविध्य को समझने का अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार, प्रारंभिक ऐतिहासिक समाज के अध्ययन में पुरातत्व की भूमिका अनमोल है और वह उस युग के लोगों की जीवंत छवि हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

पुरातात्विक धार्मिक विश्वास और मूर्तिकला

भारत की सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराएं अत्यंत प्राचीन और समृद्ध रही हैं, जिनका प्रमाण हमें विभिन्न पुरातात्विक स्थलों, अवशेषों, मूर्तियों और स्थापत्य कला में मिलता है। मानव इतिहास के आरंभिक चरणों से ही धार्मिक विश्वासों ने मानव समाज को गहराई से प्रभावित किया है। इन विश्वासों की अभिव्यक्ति मूर्तिकला के रूप में सामने आती है, जो न केवल धार्मिक आस्था का प्रतीक रही, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का भी दर्पण बनी। भारत में प्रागैतिहासिक काल से लेकर मध्यकाल तक मूर्तिकला और धार्मिक विश्वासों का गहरा संबंध रहा है, जो समय के साथ विकसित होता गया। पुरातात्विक दृष्टिकोण से यदि देखा जाए तो धार्मिक विश्वास और मूर्तिकला दोनों परस्पर पूरक हैं, और इनके माध्यम से हम उस समय के समाज की धार्मिक प्रवृत्तियों, कलात्मक दृष्टिकोण, सांस्कृतिक मूल्यों और राजनैतिक संरचना को समझ सकते हैं।

प्रारंभिक मानव समाज में प्रकृति की शक्तियों – जैसे सूर्य, चंद्रमा, अग्नि, जल, वायु आदि – की पूजा की जाती थी। इन शक्तियों को मूर्त रूप में प्रदर्शित करने का विचार धीरे-धीरे विकसित हुआ। हड़प्पा सभ्यता (सिंधु घाटी सभ्यता) की पुरातात्विक खोजों से हमें धार्मिक विश्वासों के कई प्रमाण मिलते हैं, जैसे पशुपति महादेव की मुहर, मातृ देवी की मूर्तियाँ, पूजा वेदियाँ, लिंग और योनि चिन्ह आदि। ये सभी प्रतीक इस बात को दर्शाते हैं कि सिंधु समाज में धार्मिक विश्वासों की गहरी जड़ें थीं और वे प्रकृति एवं प्रजनन शक्तियों की पूजा करते थे। इन मूर्तियों और प्रतीकों से यह भी पता चलता है कि मूर्तिकला उस समय न केवल धार्मिक उद्देश्य के लिए,

बल्कि सांस्कृतिक पहचान, शक्ति और सामुदायिक एकता का माध्यम भी थी।

हड़प्पा के बाद वैदिक काल में मूर्तिकला की अपेक्षा यज्ञ और मंत्रों की प्रधानता रही, परंतु बाद के उत्तरवैदिक काल में जब उपनिषदों और दर्शनों का विकास हुआ, तब धर्म के रूप में जटिल विचारधाराएँ सामने आईं, जो मूर्तिपूजा की नींव तैयार करती हैं। इसके बाद छठी सदी ईसा पूर्व में जब बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हुआ, तब इन धर्मों ने धार्मिक जीवन में नए आयाम जोड़े। प्रारंभ में विशेषकर बौद्ध धर्म मूर्तिपूजा के विरोध में था, और बुद्ध के प्रतीकात्मक रूप जैसे स्तूप, धर्मचक्र, पदचिन्ह आदि का उपयोग होता था। परंतु मौर्य काल के बाद विशेष रूप से कुषाण काल (प्रथम-द्वितीय सदी ईस्वी) में गांधार और मथुरा शैलियों के तहत बुद्ध की मानवाकार मूर्तियाँ बननी शुरू हुईं। ये मूर्तियाँ न केवल सौंदर्य की दृष्टि से उत्कृष्ट थीं, बल्कि धार्मिक विश्वासों को जनसामान्य तक पहुँचाने का सशक्त माध्यम भी बनीं।

बौद्ध मूर्तिकला का एक प्रमुख केंद्र सांची था, जहाँ के स्तूपों और तोरणों पर खुदे हुए दृश्य, जातक कथाएँ और प्रतीकात्मक मूर्तियाँ यह दिखाती हैं कि मूर्तिकला को कैसे धार्मिक शिक्षाओं के प्रचार के लिए प्रयोग किया गया। इसी तरह अमरावती, नालंदा और सारनाथ की मूर्तिकला परंपरा बौद्ध धर्म के विकास को प्रकट करती है। दूसरी ओर, जैन धर्म ने भी तीर्थंकरों की मूर्तियों की परंपरा को बढ़ावा दिया। जैन तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियाँ जैसे श्रवणबेलगोला के गोमतेश्वर की मूर्ति इस बात का प्रमाण हैं कि जैन समाज ने भी मूर्तिकला को धार्मिक आस्था का केन्द्र बनाया।

मौर्य काल में अशोक द्वारा बनाए गए स्तंभ, विशेषतः उनके शीर्ष जैसे सिंह, हाथी, बैल आदि के मूर्तिशिल्प, न केवल राजनीतिक शक्ति के प्रतीक थे बल्कि धर्म प्रचार का माध्यम भी। अशोक के शिलालेखों और स्तंभों पर अंकित धर्मलिपियाँ बताती हैं कि उस समय धर्म और राजनीति का समन्वय मूर्तियों और स्थापत्य के माध्यम से होता था। मौर्यकालीन यक्ष और यक्षिणी की मूर्तियाँ भी धार्मिक विश्वासों की ओर संकेत करती हैं, जो लोकदेवताओं की पूजा के रूप में व्यापक रूप से स्वीकृत थीं।

गुप्त काल को भारतीय मूर्तिकला का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस काल में हिन्दू, बौद्ध और जैन तीनों धर्मों की मूर्तिकला को उत्कर्ष प्राप्त हुआ। हिन्दू धर्म में विष्णु, शिव, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती जैसे देवताओं की सुंदर और सजीव मूर्तियाँ गुप्तकालीन मंदिरों में मिलती हैं। इन मूर्तियों में केवल धार्मिक भावनाएं ही नहीं, बल्कि शिल्पीय सौंदर्य, मुद्रा विज्ञान, भाव भंगिमा और प्रतीकात्मकता का अद्वितीय संयोजन देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश

के देवगढ़ मंदिर की विष्णु अनंतशयन मूर्ति, बिहार के देव की सूर्य मूर्ति, या मध्यप्रदेश के उदयगिरि की मूर्तियाँ इस काल की शिल्पकला की परिपक्वता को दर्शाती हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला के पश्चात पाल और चोल काल में मूर्तिकला ने और भी भव्यता प्राप्त की। पालकालीन मूर्तिकला मुख्यतः बौद्ध धर्म पर केंद्रित थी, जहाँ बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियाँ बनाई गईं – जैसे ध्यान मुद्रा, धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा, अभय मुद्रा आदि। वहीं, दक्षिण भारत में चोल शासकों ने नटराज की कांस्य प्रतिमा के माध्यम से मूर्तिकला को नई ऊँचाई दी। नटराज की यह मूर्ति केवल एक धार्मिक प्रतीक नहीं, बल्कि भारतीय दार्शनिक और शिल्प परंपरा का उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ शिव को सृष्टि, संहार और ऊर्जा के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

मूर्तिकला का धार्मिक विश्वासों से संबंध केवल मंदिरों या स्तूपों तक सीमित नहीं था, बल्कि यह जनसामान्य के जीवन का भी हिस्सा थी। घरों में स्थापित घरेलू देवताओं की मूर्तियाँ, ग्राम देवताओं की आकृतियाँ, पूजा स्थल, यज्ञ वेदियाँ, नगर देवताओं के प्रतीक – ये सब उस सामूहिक धार्मिक चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मूर्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती थी। मूर्तियों में प्रयुक्त मुद्राएँ, प्रतीक जैसे कमल, शंख, चक्र, त्रिशूल, वाहन आदि सभी धार्मिक विश्वासों की अभिव्यक्ति थे। मूर्तियाँ केवल पूज्य नहीं थीं, वे शैक्षिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक संवाद का भी माध्यम थीं।

पुरातत्वविदों द्वारा मिले अवशेष यह बताते हैं कि धार्मिक मूर्तिकला का विकास केवल शासक वर्ग की पहल पर नहीं, बल्कि जनमानस की धार्मिक अनुभूतियों और सामूहिक आस्थाओं से भी प्रेरित था। धार्मिक स्थल केवल पूजा के नहीं, सामाजिक संवाद, शिक्षा, कला और संस्कृति के केंद्र भी थे। अतः मूर्तिकला धार्मिक विश्वासों की संपूर्ण अनुभूति का मूर्त रूप थी, जो समय और स्थान के अनुसार बदलती रही, परंतु अपनी मूल भावना – श्रद्धा, शक्ति और सौंदर्य – को सदैव समाहित करती रही।

मुद्राओं और वाणिज्यिक गतिविधियों के पुरातात्विक संकेत

भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करते समय मुद्रा और वाणिज्यिक गतिविधियों के पुरातात्विक संकेत अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। ये संकेत न केवल आर्थिक संरचना को उजागर करते हैं, बल्कि उस युग की राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक गतिशीलता को भी दर्शाते हैं। मुद्राएँ इतिहास का ऐसा स्त्रोत हैं जो राजा, राज्य, समय, धर्म, कला, प्रौद्योगिकी, व्यापार मार्ग और विदेशी संबंधों के बारे में गूढ़ जानकारी प्रदान करती हैं। वाणिज्यिक गतिविधियाँ, जैसे कि व्यापार, विनिमय, शिल्प उत्पादन, समुद्री और स्थलीय मार्गों

की खोज, व्यापारिक केंद्रों का विकास, तथा व्यापारिक संघों की संरचना, भारत के समृद्ध आर्थिक इतिहास की गवाही देते हैं। जब हम पुरातात्विक साक्ष्यों की दृष्टि से इन दोनों विषयों की जांच करते हैं, तो भारत की आर्थिक विकास यात्रा का एक विस्तृत और सजीव चित्र हमारे सामने उभरकर आता है।

मुद्राओं का प्रचलन भारत में लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व से माना जाता है। इस काल को "महाजनपद काल" भी कहा जाता है, जब 16 महाजनपदों का उदय हुआ था। पुरातात्विक खुदाइयों में इस काल की "पंचमार्क" या "पंचचिह्नित" मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। ये सामान्यतः चांदी की बनी होती थीं और इन पर विभिन्न प्रतीक जैसे सूर्य, चंद्रमा, वृषभ, वृक्ष, मत्स्य आदि अंकित होते थे। इन प्रतीकों का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक महत्व था। पंचमार्क मुद्राएँ अनगढ़ और हस्तनिर्मित होती थीं, जिनमें स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है कि ये राज्य द्वारा अधिकृत थीं और व्यापार में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण थी। इन मुद्राओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय वस्तु विनिमय की बजाय धातु आधारित मुद्रा प्रणाली की ओर संक्रमण प्रारंभ हो गया था, जिससे व्यापार की गति और सटीकता में वृद्धि हुई।

मौर्य काल में चंद्रगुप्त मौर्य और विशेष रूप से सम्राट अशोक के समय में मुद्रा प्रणाली का अधिक औपचारिक और संगठित रूप सामने आया। मौर्यकालीन मुद्राएँ नियमित आकार की होती थीं और इनका निर्माण विशेष टकसालों (mints) में होता था। इस काल में व्यापारी वर्ग की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी। पुरातात्विक संकेतों से ज्ञात होता है कि मौर्य साम्राज्य ने अपनी मुद्रा प्रणाली का उपयोग एक एकीकृत आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए किया, जिससे पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में व्यापारिक गतिविधियाँ सुगम हो सकीं। अशोक के शिलालेखों और स्तंभों से यह भी स्पष्ट होता है कि व्यापारिक मार्गों, सड़क नेटवर्क, और विश्रामगृहों (सरायों) का निर्माण कर व्यापार को प्रोत्साहित किया गया।

शुंग, सातवाहन, कुषाण और गुप्त काल में मुद्रा प्रणाली और अधिक परिष्कृत हुई। कुषाण सम्राट कनिष्क की स्वर्ण मुद्राएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनमें यूनानी, बौद्ध, ईरानी और हिन्दू देवताओं के चित्र अंकित होते थे। यह दर्शाता है कि कुषाण काल में न केवल व्यापारिक बल्कि सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी हो रहा था। इसी प्रकार, सातवाहन काल की मुद्राओं में जहाज, शंख, हाथी, चक्र, और ध्वज जैसे प्रतीकों का प्रयोग व्यापारिक गतिविधियों और समुद्री मार्गों के महत्व को इंगित करता है। इन मुद्राओं से यह भी स्पष्ट होता है कि भारत का व्यापार दक्षिण एशिया, रोमन साम्राज्य, पश्चिम एशिया और सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया तक फैला हुआ

था।

गुप्तकाल में मुद्राएँ न केवल आर्थिक विनिमय का माध्यम थीं, बल्कि वे राजनीतिक शक्ति, धार्मिक प्रवृत्तियों और कलात्मक उत्कृष्टता की अभिव्यक्ति भी थीं। चंद्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त, और समुद्रगुप्त जैसी महान हस्तियों की स्वर्ण मुद्राओं में उनके नाम, उपाधियाँ, युद्ध, घुड़सवारी, वीणा वादन और बलिदान की झलक मिलती है। यह इस बात का प्रमाण है कि मुद्रा का प्रयोग केवल आर्थिक ही नहीं, राजनीतिक प्रचार के रूप में भी किया जाता था। इन मुद्राओं की उत्कृष्ट शिल्पकला और सुंदरता उस युग की कला की ऊँचाई को दर्शाती है।

पुरातात्विक उत्खनन में प्राप्त व्यापारिक केंद्र जैसे तक्षशिला, पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, आरिकमेडु, बनावली, सौनागिरि, नागर्जुनकोंडा आदि ऐसे स्थल हैं जहाँ मुद्रा और व्यापारिक अवशेष बड़ी मात्रा में पाए गए हैं। आरिकमेडु जैसे बंदरगाह स्थल पर मिली रोमन मुद्राएँ, मृदभांड, वाइन की सुराहियाँ और काँच की वस्तुएँ इस बात का संकेत देती हैं कि भारत का समुद्री व्यापार रोम जैसे बड़े साम्राज्यों से जुड़ा हुआ था। यही नहीं, वाणिज्यिक गतिविधियों में व्यापारी संघों (श्रेणियों) की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी। पुरातात्विक प्रमाण जैसे ताम्रपत्र, शिलालेख, मुद्राएं, और व्यापारिक गोदामों के अवशेष इस बात की पुष्टि करते हैं कि व्यापार एक संगठित ढांचे में होता था।

भारत के उत्तर, मध्य और दक्षिण भागों से प्राप्त शिलालेखों में व्यापारियों द्वारा मंदिरों को दान दिए जाने, व्यापारिक मार्गों के संरक्षण, पुलों और जलाशयों के निर्माण, तथा व्यापार संघों की गतिविधियों का वर्णन मिलता है। यह दर्शाता है कि व्यापारियों की सामाजिक भूमिका केवल आर्थिक नहीं थी, वे धार्मिक और सांस्कृतिक संरचनाओं के भी संरक्षक थे। इस बात का प्रमाण हमें अमरावती, नालंदा, और बदामी जैसे क्षेत्रों की खुदाइयों से मिलता है।

दक्षिण भारत में चोल काल के दौरान मुद्राएँ और व्यापार और भी सशक्त रूप में विकसित हुए। इस काल में भारत का समुद्री व्यापार इंडोनेशिया, मलेशिया, श्रीलंका और अरब देशों तक विस्तृत था। पुरातात्विक साक्ष्य जैसे समुद्री जहाजों के चित्र, बंदरगाहों के अवशेष, नाविक समुदायों की बस्तियाँ, और विदेशी वस्तुएँ – इस बात का प्रमाण हैं कि भारत एक सशक्त व्यापारिक शक्ति था। चोलों ने व्यापार के लिए राजकीय संरक्षण दिया, जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिला।

मुद्राएँ केवल आंतरिक व्यापार का संकेत नहीं देतीं, वे विभिन्न जातियों और सभ्यताओं के बीच संपर्क और संबंधों का भी प्रमाण देती हैं। पुरातात्विक रूप से रोमन, यूनानी, फारसी और चीनी

मुद्राओं का भारत में मिलना इस बात का स्पष्ट संकेत है कि भारत प्राचीन काल में वैश्विक व्यापारिक नेटवर्क का अभिन्न हिस्सा था। इस नेटवर्क ने न केवल व्यापारिक वस्तुओं का आदान-प्रदान किया, बल्कि विचारों, धर्मों, भाषाओं और कलाओं का भी।

पुरातत्व द्वारा पुनर्निर्मित इतिहास की दिशा

पुरातत्व विज्ञान का इतिहास लेखन में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन सभ्यताओं, सांस्कृतिक परंपराओं, सामाजिक संरचनाओं और मानव जीवन के बारे में हमारे ज्ञान को विस्तार से समझने के लिए पुरातत्व ने हमेशा अभूतपूर्व योगदान दिया है। जहां एक ओर लिखित इतिहास और साहित्यिक स्रोतों से हम केवल उस समय के राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अवगत होते हैं, वहीं पुरातत्व ने हमें उन अज्ञात और अनदेखी चीजों को देखने का अवसर प्रदान किया है, जिन्हें इतिहास के पारंपरिक दृष्टिकोण से नहीं समझा जा सकता। भारतीय उपमहाद्वीप में पुरातात्विक अनुसंधान ने इतिहास के पुनर्निर्माण में नए आयाम जोड़े हैं और यह प्रक्रिया लगातार जारी है।

प्राचीन काल में लिखित सामग्री का अभाव था, विशेष रूप से भारतीय उपमहाद्वीप में, जहां प्राचीन समाजों के बारे में अधिकांश जानकारी मौखिक परंपराओं और धार्मिक ग्रंथों से प्राप्त होती थी। इसके बावजूद, बहुत से ऐतिहासिक पहलुओं को समझने के लिए पुरातात्विक खोजों की आवश्यकता थी। भारतीय पुरातत्व ने समय के साथ उन घटनाओं, व्यक्तित्वों, सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं और धार्मिक आस्थाओं को उजागर किया है, जो इतिहास के पृष्ठों में ठीक से दर्ज नहीं हो पाई थीं। इस संदर्भ में, पुरातत्व ने भारत के प्राचीन इतिहास को पुनः स्वरूप देने में अहम भूमिका निभाई है।

- **पुरातत्व और इतिहास लेखन**

पुरातत्व के अध्ययन में विशेष रूप से धरोहरों, अवशेषों, शिलालेखों, मुद्राओं, मूर्तियों, भवनों और अन्य सांस्कृतिक वस्तुओं का विश्लेषण किया जाता है। इन खोजों के माध्यम से पुरातत्त्वविदों को प्राचीन सभ्यताओं और समाजों की संरचना, उनके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक पहलुओं, उनकी संस्कृति, और उनके जीवन के बारे में नई जानकारी मिलती है। इन अवशेषों से प्राप्त तथ्यों ने इतिहास को एक नए दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। उदाहरण के तौर पर, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सभ्यता के स्थल की खोज ने सिंधु घाटी सभ्यता के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी दी, जिससे हम अब तक समझे गए इतिहास से कहीं अधिक जानकारियाँ प्राप्त कर पाए हैं।

पुरातात्विक अवशेषों से यह स्पष्ट होता है कि सिंधु घाटी की सभ्यता ने उच्च स्तरीय नगर योजना, जल-प्रबंधन प्रणाली, धातु विज्ञान, कला, व्यापार, और सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं में बहुत उन्नति की थी। इसका कोई लेखित प्रमाण न होने के बावजूद, पुरातत्व ने हमें इन सभ्यताओं की विस्तृत जानकारी दी है। इसी प्रकार, गुप्त काल के शिलालेखों, मौर्य काल के सम्राट अशोक के शिलालेखों, और उनकी नीति में बदलावों के माध्यम से हम उस काल की राजनीतिक और सांस्कृतिक विशेषताओं को पहचान पाते हैं। इन खोजों से यह स्पष्ट होता है कि इतिहास केवल साहित्यिक या शासकीय दावों से नहीं, बल्कि समाज की वास्तविकता और जीवनशैली से भी निर्मित होता है।

➢ **पुरातात्विक विधियों का उपयोग**

प्राचीन समाजों के पुनर्निर्माण के लिए पुरातत्वविदों ने कई विशिष्ट विधियों का उपयोग किया है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं, उत्खनन, दार्शनिक पुनर्निर्माण, और विभिन्न वैज्ञानिक तकनीकों का उपयोग। उत्खनन के दौरान पुरातत्वविदें प्राचीन स्थलों से अवशेषों को इकट्ठा करते हैं, जिन्हें बाद में परीक्षण करके उनकी सटीकता और समयकाल का निर्धारण किया जाता है। इस दौरान मिली वस्तुओं, जैसे कि शिलालेख, मूर्तियाँ, मुद्राएँ, बर्तन, और अन्य घरेलू सामान, समाज के विभिन्न पहलुओं के बारे में जानकारी प्रदान करते हैं।

एक और प्रमुख विधि है, कार्बन डेटिंग और थर्मोल्यूमिनेसेंस डेटिंग जैसी आधुनिक तकनीकों का उपयोग। इन विधियों से यह जाना जा सकता है कि किसी वस्तु या सामग्री की वास्तविक आयु क्या है। इसके द्वारा हम प्राचीन सभ्यताओं के विकास की गति और समय-रेखा को समझ सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, पत्थर और धातु की वस्तुएं, जिनका उपयोग पहले किया गया था, उनका अध्ययन कर हम यह समझ सकते हैं कि किस काल में कौन से उपकरण और किस प्रकार की तकनीकी क्षमताएँ मौजूद थीं।

➢ **सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण**

पुरातात्विक अध्ययन ने हमें प्राचीन समाज की जीवनशैली, उनके रीति-रिवाजों, धार्मिक विश्वासों, कला, संगीत और साहित्य को बेहतर तरीके से समझने का अवसर दिया है। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारतीय समाज की कला, जो मंदिरों, स्तूपों, और मूर्तियों में दिखाई देती है, पुरातात्विक दृष्टिकोण से इतिहास का एक अहम हिस्सा बन चुकी है। मौर्य और गुप्त काल के दौरान बनी स्तूपों, जैसे सांची और बिहार के राजगीर क्षेत्र में मिले स्तूप, हमें उस समय के

धार्मिक विश्वासों और स्थापत्य कला के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं।

यह भी देखा गया है कि पुरातत्व ने प्राचीन भारतीय समाज में शहरीकरण, व्यापार, और उद्योगों के प्रसार को भी स्पष्ट किया है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के विकास से संबंधित पुरातात्विक खोजों ने यह बताया कि धार्मिक विचारधारा के फैलाव के साथ-साथ समाज में धार्मिक संस्थाओं का गठन हुआ, जो समाज की मानसिकता और जीवनशैली पर गहरा प्रभाव डालते थे।

- **भारतीय इतिहास में पुरातत्व का योगदान**

भारत में पुरातात्विक अध्ययन ने इतिहास लेखन को केवल शासकीय दृष्टिकोण से परे ले जाकर एक व्यापक और सर्वांगीण दृष्टिकोण दिया है। शिलालेखों, मुद्राओं और अन्य अवशेषों से हमें केवल राजाओं और शासकों के बारे में नहीं, बल्कि सामान्य जनजीवन, उनकी मान्यताओं, उनके जीवनयापन की परिस्थितियों और उनके सामूहिक संघर्षों के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, मौर्यकाल के शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म को न केवल एक धार्मिक पंथ के रूप में अपनाया, बल्कि उसे समाज के समग्र विकास और नैतिक सुधार के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार, पुरातत्व ने राजनैतिक इतिहास के साथ-साथ सांस्कृतिक इतिहास का भी पुनर्निर्माण किया।

इसके अतिरिक्त, पुरातात्विक अनुसंधान ने भारतीय उपमहाद्वीप में व्यापारिक गतिविधियों की दिशा को भी पुनर्निर्मित किया। मुद्राएँ, पोर्ट साइट्स, और प्राचीन वस्त्रों की खोज ने यह स्पष्ट किया कि भारत में प्राचीन काल में व्यापार वैश्विक स्तर पर विस्तारित था और विविध संस्कृतियों का मिश्रण हुआ करता था।

निष्कर्ष

भारत का प्राचीन इतिहास अत्यधिक समृद्ध और विविधतापूर्ण है, जो कई सांस्कृतिक, सामाजिक, और भौगोलिक तत्वों से जुड़ा हुआ है। भारत के प्रारंभिक ऐतिहासिक चरण को समझने के लिए पुरातात्विक अध्ययन अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह हमें लिखित इतिहास से परे जाकर समाजों और संस्कृतियों की वास्तविकता को उजागर करने का अवसर प्रदान करता है। प्रारंभिक ऐतिहासिक चरण में जो संस्कृतियाँ, सभ्यताएँ, और समाज अस्तित्व में थे, उनके बारे में हमारे पास बहुत सीमित लिखित साक्ष्य होते हैं, लेकिन पुरातात्विक अवशेषों के माध्यम से हम इन समाजों के जीवन, संस्कृति और उनकी विकास यात्रा को जान सकते हैं।भारत में प्रारंभिक ऐतिहासिक चरण के पुरातात्विक अध्ययन का महत्व कई दृष्टिकोणों से अत्यधिक है। सबसे पहले, यह हमें प्राचीन भारतीय सभ्यताओं, जैसे कि सिंधु घाटी सभ्यता

(हड़प्पा और मोहनजोदड़ो) के बारे में जानकारी प्रदान करता है। इन सभ्यताओं के शहरीकरण, जल-प्रबंधन, व्यापारिक नेटवर्क, कला, और धर्म के पहलुओं को पुरातात्विक साक्ष्यों के माध्यम से ही समझा जा सकता है। इन सभ्यताओं के अवशेषों में मिली मुहरें, बर्तन, निर्माण संरचनाएँ, और अन्य वस्तुएं हमें उनके समाज की सांस्कृतिक और सामाजिक संरचना के बारे में विस्तृत जानकारी देती हैं। इससे हम यह समझ सकते हैं कि इन समाजों में उन्नत विज्ञान, कला, और तकनीकी क्षमताएँ मौजूद थीं, जिनका हम आजकल के संदर्भ में भी मूल्यांकन कर सकते हैं।प्रारंभिक ऐतिहासिक चरण के पुरातात्विक अध्ययन का महत्व इसलिए भी है क्योंकि यह हमें सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के क्रम को समझने में मदद करता है। यह अध्ययन हमें यह समझने का अवसर देता है कि कैसे प्राचीन भारतीय समाजों ने अपने संसाधनों का उपयोग किया, किस प्रकार उनके समाज में परस्पर संबंध थे, और कैसे उनके जीवनशैली में परिवर्तन आया। पुरातात्विक अवशेषों के माध्यम से हम यह जान सकते हैं कि समय के साथ समाज में किस प्रकार का विकास हुआ और किस प्रकार विभिन्न सभ्यताएँ और संस्कृतियाँ एक-दूसरे से प्रभावित हुईं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 फूटे, आर.बी., 1916, दक्षिणभारतकीप्राचीनवस्तुएं, पुनर्मुद्रण, दिल्ली: मयूरप्रकाशन, 1986, पृ. 90 मेंउद्धृत

2 न्यूबोल्ड, टी.जे., 1842, "दक्षिणीभारतमेंराखकेकुछप्राचीनटीले" जर्नलऑफदरॉयलएशियाटिकसोसाइटीऑफग्रेटब्रिटेनएंडआयरलैंड, खंड 7, पृ. 134 - 135

3 सेवेल, आर., 1899, "दसिंडर-माउंड्सऑफबेल्लारी," जर्नलऑफदरॉयलएशियाटिकसोसाइटीऑफग्रेटब्रिटेनएंडआयरलैंड, (जनवरी, 1899), पृ. 16

4 सेवेल, आर., 1899, ibid., पृ. 9 - 11

5 सेवेल, आर., 1899, ibid., पृ. 16

6 लॉन्गहर्स्ट, एएच, 1912-13, "बेल्लारीजिलेकेकुदातिनीमेंसिंडरमाउंड", जॉनमार्शल, एड., वार्षिकरिपोर्ट 1912-13, पृष्ठ 147

7 फूटे, 1916, उद्धृत, पृ. 91, पृ. 93

8 फूटे, 1916, उद्धृत, पृ. 94

9 फूटे, 1916, उद्धृत, पृ. 95

10 रविकोरीसेट्टर, एटअल., 2001, ऑपमेंउद्धृत।सिट., पी. 162

11 मजूमदार, जीजी, औरराजगुरु, एसएन, 1966, ओपी।सिट., पी. 47

12 ऑलचिन, एफ.आर., औरबी. ऑलचिन, 1963, उद्धृत, पृ. 164- 166

13 पडय्या, के., 2002, ऑप. सिट., पीपी. 81-111

14 आईएआर 1978-79, पृ. 62-63

15 पडय्या, के., 2002, ऑप. सिट., पी. 83

16 पडय्या, के. 1973, ऑप. सिट., पी. 57

17 पडय्या, के., 2002, ऑप. सिट., पृ. 104-106

18 कोरीसेट्टर, रवि, एटअल., 2001, ऑप. सिट., पी. 212

19 शाह, डीआर, पडय्यामें, के., 1973, ऑप।सिट., पी. 93

20 ऑलचिन, एफआर, 1961, ऑप. सिट., पी. 55

21 ऑलचिन, एफआर, 1960, ऑप. सिट., पी. 115

22 शाह, डीआर, 1973, "कोडेकलउत्खननसेपशुअवशेष" के. पड्डय्या, 1973, उद्धृत, पृ. 93